भारतीय साहित्य में दलित साहित्य की अस्मिता

-डॉ. संध्या सिलावट,
राज्यकर, उपायुक्त,
इंदौर, मध्य प्रदेश, भारत

धार्मिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, एवं हिन्दी साहित्य आदि शब्द साहित्य के क्षेत्र में खूब सुनने में आते हैं। 80-90 के दशक से हिन्दी साहित्य में मुख्यतः दलित जाति से निकले रचनाकारों का साहित्य, दलित साहित्य है, जिन्होंने सामाजिक विषमताओं, अन्यायों एवं शोषण को स्वयं झेला है और अपने तीव्र एवं कटु अनुभवों को कलमबद्ध किया है। ऐसा नहीं है कि दलित साहित्य अस्सी और नब्बे के दशक में ही आया। इसकी परम्परा अति प्राचीन है। इसका अपना दर्शन है, जिसका आधार है बौद्ध दर्शन एवं अम्बेडकर दर्शन। इन दोनों दर्शनों को साथ रखने से जो दर्शन बनेगा, वही दर्शन दलित साहित्य का होगा।

असमानता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था और जाति प्रथा का विरोध करते हुए मानवीय क्षमता, गौरव और प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना दलित साहित्य की रीढ़ है। दलित साहित्य का संदेश है वर्णवादी व्यवस्था का न केवल विरोध करना, बल्कि उसके प्रति असंतोष और आक्रोश को उत्पन्न करना, उसे बढ़ाना। उसका लक्ष्य है, ऐसे स्वस्थ समाज का निर्माण करना, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्मान के साथ जी सके और अपनी सभी प्रकार की उन्नति एवं प्रगति के लिए उसे समान अवसर प्राप्त हो सकें। व्यक्ति के दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति ही साहित्य है, संस्कृत साहित्य में संभवतः इसलिए करुण रस को इतना महत्व दिया गया है। दलित लेखक अपने सदियों के दुःख-दर्द को लोगों के सामने ला रहे हैं।[1]

स्वतंत्रता पूर्व भी दलित साहित्य लिखा गया। हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा के समय हीरा डोम का नाम सबसे पहले उभरकर सामने आता है। सितम्बर 1914 में प्रकाशित उनकी कविता 'अछूत की शिकायत' भोजपुरी भाषा में लिखी हुई है। इस कविता की अंतिम पंक्तियों को पढ़ने पर पता चलता है कि 'दलित साहित्य' की अवधारणा को क्यों दलित विचारक दलितों से जोड़ते हैं-

हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जां,

पांके में से भरि-भरि पिआतानी पानी।

पनही से पिटि-पिटि गोड़े तुड़ि दैलै,

हमनी के एतनी काही के हलकानी।[2]

(सरस्वती, सितम्बर 1914)

अगर इन पंक्तियों के भावार्थ और उसमें निहित मूल संवेदना को हम पहचानें, तो साफ पता चलता है कि कितनी विवशतापूर्ण भाषा/अनपढ़ शैली और स्वर में हीरा डोम ने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में दलितों की वास्तविक स्थिति और उनके मन की व्यथा को प्रकट करने की कोशिश की है। कितनी विडम्बना है कि केवल पानी के लिए दलित जातियों ने भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्य-धारा के अन्दर एक लम्बी लड़ाई लड़ी है।

स्वामी अछूतानन्द आधुनिक दलित साहित्य इतिहास के जनक हैं। इसके लिए उनके पास पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान था। 'आदि हिन्दू' नामक संस्था एवं अखबार उन्होंने स्थापित किए। उन्होंने 'आदि हिन्दू' आन्दोलन के प्रवर्तक होने के नाते दलित वर्ग में सामाजिक मुक्ति की दृष्टि से वैचारिक क्रान्ति के बीज बोए। स्वतंत्रता पूर्व के नवजागरण में हम हिन्दी क्षेत्र से स्वामी अछूतानन्द को दलितों का नेतृत्व करने में सफल, सक्षम एवं समर्पित पाते हैं।[3]

अछूतानन्द मुख्यतः साहित्यिक संत थे-सम्मेलनों में काव्यमय व्याख्यान देते थे। 1923 में उन्होंने अपने ऐतिहासिक महत्व की कविता पढ़ी। यह कविता 'आदि हिन्दू' पत्र का शीर्ष वाक्य भी थी।

सभ्य सबसे हिन्द के, प्राचीन हैं हकदार हम,

था बनाया शूद्र हमको, थे कभी सरदार हम।

अब नहीं है वह जमाना, जुल्म हरिहर मत सहो ।

तोड़ दो जंजीरें जकड़ें, क्यों गुलामी में रहो।[4]

बिहारी लाल हरित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्य भी रहे। [5]

कविरत्न महात्मा बख्शीदास-सन् 1935 के आसपास में इन्होंने लम्बा भजन लिखा, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ-जिसकी कुछ पंक्तियाँ अभी भी कुछ लोगों को कंठस्थ है:-

मनु जी तुमने वर्ण बना दिये चार।

शूद्र बनाते काले वर्ण के, पीछे पैर लगाये क्यों ना?

चारों वर्ण भगवद्वारे ही आये, कहने में शर्माय

क्यों ना?

झूठा लेख लिखा पोपन ने, भारत दियौ बिगार।

मनु जी तुमने वर्ण बना दिए चार।[6]

दलित साहित्य की परम्परा हीरा डोम से प्रारम्भ नहीं है। यह इतिहास में बहुत आगे तक है। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने वर्णाश्रम पर आधारित अन्यायकारी और दूसरे का दमन करने वाली सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया। अपने धर्म के द्वार सबके लिए खोले। इतिहास साक्षी है कि जब ये श्रावस्ती में थे, तो उन्होंने सुनीता नामक शोषित दलित को अपने संघ में शामिल किया और दलितोद्धार का प्रथम कदम उठाया। गौतम बुद्ध जाति प्रथा एवं छुआछूत के घोर विरोधी थे। उन्होंने मानव मात्र को समान माना।[7]

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं कि जाति प्रथा को उड़ा देने की बात प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भी हुई है, परन्तु अश्वघोष जैसे अपवाद को छोड़ दें, तो ये पुस्तकें साधारणतः कथित ऊँची जाति के लेखकों द्वारा लिखी गयी हैं, जिसमें लेखक तटस्थ विचारक की भांति रहता है। स्वयं नीचा कहे जाने वाले वंश में उत्पन्न नहीं होने के कारण उनमें भुक्तभोगी की तीव्रता एवं उग्रता नहीं होती।[8]

द्विवेदीजी के शब्दों में ऐसे कुल में उत्पन्न हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊँच-नीच की भावना और जाति व्यवस्था का फौलादी ढांचा तर्क और बहस की वस्तु नहीं होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है।[9]

मध्यकाल में दक्षिण भारत में कथित अछूत आलवारों ने उपासना पद्धति की रागात्मक भक्ति को प्रारम्भ किया। उसकी लोकप्रियता को देखते हुए ऊँची कही जाने वाली जाति के हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। इसके आचार्य भी बन गए और अलग-अलग सिद्धान्त भी स्थापित कर दिए। उत्तर भारत में भी ऐसा ही हुआ। रामानुज, चैतन्य, कबीर, तुकाराम और नानक जैसे सन्तों ने आध्यात्मिक स्तर पर जातिगत शोषण का विरोध किया। प्रत्येक मानव में ईश्वर का रूप देखा। उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन कबीर ने प्रारम्भ किया। जातिगत शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। परन्तु इस आन्दोलन में सूर एवं तुलसी भी शामिल हो गए। सन्त कवि रैदास की भक्ति भावना चाहे कितनी भी ऊँची अथवा महान क्यों न हो। अन्ततः उन्हें इस सत्य को स्वीकारना पड़ा कि-

"रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।

नर को नीच करि डारि है, ओछ करम की नीच।“ [10]

मुक्तिबोध ने लिखा है कि इन कथित सवर्ण भक्तों ने भक्ति आन्दोलन की असली ताकत जाति प्रथा के खिलाफ उसकी क्रान्तिकारिता का हरण कर लिया।[11]

आधुनिक काल में मार्क्सवादी एवं समाजवादी दो विचार-धाराओं ने पूंजीवाद एवं जाति प्रथा और शोषण के विरूद्ध लड़ाई लड़ी । इस काल में 'महात्मा गांधी' एवं लोहिया अस्पृश्यता एवं शोषण के विरुद्ध आन्दोलन करने वालों में एक ओर हैं, तो दूसरी ओर अस्पृश्यता और शोषण के विरुद्ध ज्योतिबा फूले. रामास्वामी नायकर (पेरियार), एरीगे रामास्वामी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर खड़े दिखाई देते हैं। इनका आन्दोलन बौद्ध धर्म से प्रेरित था, जिसका महाराष्ट्र में नेतृत्व ज्योतिबा फूले ने, आन्ध्र प्रदेश में एरीगे रामास्वामी ने एवं तमिलनाडु में पेरियार ने किया। ये आन्दोलन उग्र नहीं थे, परन्तु इनका स्वरूप ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध था। इन आन्दोलनों के सभी नायकों ने दलितों को अपनी जीवन-शैली में सुधार लाने पर जोर दिया। उनकी मान्यता थी कि दलित जीवन-शैली सुधारेंगे, तो उनकी सामाजिक स्वीकृति बढ़ेगी। [12]

दलित आन्दोलन को 1920-50 तक कई विचार धाराओं ने प्रभावित किया। एक ओर गांधी विचार-धारा, तो दूसरी ओर अम्बेडकर विचार-धारा। महात्मा गांधी सभी को भगवान की संतान मानते थे। उन्हें सवर्णों से आग्रह था कि वे अछूतों के साथ न्याय करें। अछूतों की समस्या को सवर्ण उठाएं, अछूत नहीं। उन्होंने सामन्ती अत्याचारों एवं वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ कभी अछूतों को खड़े होने का आह्वान नहीं किया। इसके विपरीत डॉ. अम्बेडकर ने अछूत कही जाने वाली जाति के लोगों को शिक्षित एवं संगठित होकर संघर्ष करने की नसीहत दी। उनका दूसरा सूत्र था-सत्ता का शक्ति संतुलन अपने हाथ में रखो। राजसत्ता को अम्बेडकर ने 'चाबियों की चाबी' कहा। गांधी पंचायतों को स्वदेशी और आत्मनिर्भरता की अंतिम ईकाई मानते थे, जिस पर वर्ण-व्यवस्था की आलीशान इमारत खड़ी थी। डॉ. अम्बेडकर की पसंद सत्ता और संघर्ष थी। लक्ष्य एक था, साधन अलग-अलग दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांग को मान लिया गया। परन्तु गांधी को दलितों के अलग निर्वाचन क्षेत्र बनने से हिन्दू समाज के टूटने का खतरा था। अंग्रेजों के विरूद्ध संगठित समाज की आवश्यकता थी। [13]

हजारों वर्षों से दलितों को सत्ता एवं सम्पत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित रखा गया। दलित व्यवस्था से विद्रोह न करें, इसलिए समझाया गया कि इस व्यवस्था को ईश्वर ने बनाया है। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित साहित्य लिखा गया, जिसे धार्मिक साहित्य की संज्ञा दी गई। उसे लागू करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था कायम की गयी और उसे मनवाने के लिए दण्ड विधान बनाये गये जिनका आधार भी जाति-प्रणाली ही थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र कहता है कि यदि शूद्र किसी वस्तु को चुराता है, तो उसका हाथ काट दिया जाए। वैश्य चुराये तो कुछ पण (मुद्रा) दण्ड स्वरूप वसूल किये जाएं। क्षत्रिय करे तो फटकारा जाए किन्तु ब्राहाण चुराये तो उससे प्रार्थना की जाए कि वह दोबारा चोरी न करे।

'मनु स्मृति' में यहां तक कहा गया है कि ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड देना हो तो उसका सिर मुण्डन कर दो। इस प्रकार विधान शूद्रों के खिलाफ बनाया गया, जिसका उपयोग बौद्ध-दर्शन के विरुद्ध किया गया। हिन्दू धर्म व्यवस्था में दलितों की छाया, स्पर्श और वाणी को अस्पृश्य माना गया है। दलित सम्पत्ति जमा न करें, गांव से बाहर रहें, गधे एवं कुत्ते ही उसकी सम्पत्ति हो। वह सोने के आभूषण न पहनें। इतना ही नहीं, वह मिटटी के बर्तन में ही अन्न ग्रहण करें। कफन का कपड़ा धारण करें। अपने नाम अमंगल और अभद्र रखें। ऐसे आदेशों को हिन्दू धर्मग्रंथों में लिखकर रखा गया है।

डॉ. अम्बेडकर के विचारों से दलित को अपनी गुलामी का एहसास हुआ। उनकी वाणी को वेदना मिली, क्योंकि इस मूक समाज को उनके रूप में नायक मिला। इसलिए दलित साहित्य में 'नकार' एवं 'विद्रोह' मिलता है, जो उनकी वेदना से पैदा हुआ है। उनका 'नकार' और 'विद्रोह' अपने ऊपर लादी गई अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है। दलित साहित्य में जैसे वेदना सामूहिक रूप से व्यक्त होती है। वैसे ही नकार एवं विद्रोह भी सामाजिक एवं सामूहिक हैं। दलित के लेखन का आधार उसका निजी अनुभव है, उसके लेखन में हमेशा एक भूमिका रहती है किसके विरुद्ध विद्रोह करना है। उसका लेखन उद्देश्यपूर्ण है एवं उसके लेखन में ऐक्टिविस्ट (कार्यकर्त्ता) का आवेश एवं निष्ठा व्यक्त होती है। [14]

दलित लेखक को प्रमाणिक भाषा की अपेक्षा 'अपनी बोली' अधिक नजदीक लगती है, क्योंकि अपनी भाषा में बिना प्रयास के अनुभव को तीव्र अभिव्यक्ति मिलती है। दलित हमेशा अपनी मातृभाषा से बंधा रहा है किसी की मातृभाषा को छोटी, अश्लील या झूठी नहीं कहा जा सकता। मोहन दास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' में जो भाषा प्रयुक्त हुई, वह संस्कृत, फारसी एवं अंग्रेजी नहीं है। मुस्लिम काल में सवर्णों ने फारसी में लिखा, अंग्रेजी काल में अंग्रेजी में लिखा एवं अब भी बहुत से अंग्रेजी में लिख रहे हैं। आज के दलित साहित्य में द्विजों की सौन्दर्यशास्त्र की मांग एक भूखी नटनी को बांस पर नचाने के बराबर है। दलितों की शिकायत धर्म में है, समाज व्यवस्था के क्षेत्र में है, वही शिकायत साहित्य के क्षेत्र में भी है। संस्कृत साहित्य में दलितों की भाषा संस्कृत नहीं रखी गई। इसीलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद-16 में हर प्रकार के शोषण से मुक्ति की बात कही गई है। राज्य की संचित निधि में से दिया जाने वाला पुरस्कार दलित साहित्यकार को नहीं दिया जाता। उनकी आयु 60 वर्ष बाद की निर्धारित की गई है। 60 वर्ष की आयु में देने से क्या औचित्य ?[15]

वर्ण-व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता-समता विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित साहित्य की मूलभूत संवेदना है। दलित लेखक दलित साहित्य को इसलिए सीमित रखना चाहते हैं, क्योंकि वह भुक्तभोगियों का साहित्य है। यह दर्द की दास्तान उनकी अपनी जुबान में है। दलित साहित्य को इस तरह सीमित करना आज उसकी अलग

पहचान कायम करने के लिए जरूरी है, पर शायद वे कल इस बात पर जोर न दें। सहानुभूति से लिखा गया साहित्य भी ज्यादा प्रभावशाली हो सकता है, अगर लेखक की साहित्यिक क्षमता ज्यादा हो, दृष्टि एवं संवेदनशीलता ज्यादा गहरी हो। [16]

1933 में मुल्कराज आनन्द का 'अछूत' उपन्यास, जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' इसके सशक्त उदाहरण है। दलित रचनाकार-नागार्जुन, यशपाल, मुक्तिबोध, प्रेमचन्द, राहुल सांकृत्यायन की रचनाओं को स्वीकार नहीं करते हैं। जैसे आदि कवि वाल्मीकि की रामायण दलित साहित्य नहीं है। [17]

भक्ति आन्दोलन में दलित कवि प्रमुख थे और आज स्वतंत्र भारत के साहित्य में दलित गायब, ऐसा क्यों?[18] कथाकार राजेन्द्र यादव ने हंस के माध्यम से दलित चेतना को एक साहित्यिक मंच दिया। हिन्दी की किसी पत्रिका ने पहल नहीं की। आज अदलित दलितों को सत्ता दिलाने का महत्वपूर्ण हथियार समझते हैं और कुछ नहीं। दलितों के धर्मान्तरण के खिलाफ अदलितों में तीव्र प्रतिक्रियाएँ उठती दिखती रही हैं। वेद कदापि दलित विरोधी नहीं थे। महर्षि दयानन्द ने जन्म पर आधारित व्यवस्था को वेद विरुद्ध बतलाया है। वेदों में योग्यता वर्गीकरण का आधार है। इसलिए सभी को न्याय एवं अन्याय का ध्यान रखना चाहिए और वेदों का पालन करना चाहिए।

1932 से 1956 तक साहित्य की विभिन्न विधाओ में दलित साहित्य काफी तेजी से लिखा गया कि उस साहित्य की दिशा निश्चित नहीं थी। 1956 में डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद 1960 से लेखन की गति मंद रही। 1962 में कुछ तेज हुई। 1972 से यह लोक रचनाकारों के माध्यम से तीव्रता से फैली। 1972 के बाद कई कवियों ने जैसे धर्मवीर, कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय और कंवल भारती आदि ने दलित साहित्य को राष्ट्रीय चर्चा के केन्द्र में ला दिया। 1980 में दलित लेखकों में साहित्यिक संगठनों को स्थापना करने की सूझबूझ पैदा हुई। तब से यह सिलसिला जारी है।[19]

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

(अ) चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, डॉ. श्यौराज बेचैन, डॉ. देवेन्द्र चौबे।

(1) दलित साहित्य की अवधारणा-वीर भारत तलवार, पृ.सं. 75

(2) पृ.सं. 75

(3) पृ.सं. 76

(4) पृ.सं. 77

(5) हिन्दी दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि, पृ.सं. 172, श्यौराजसिंह बेचैन

(6) पृ.सं. 173

(7) पृ.सं. 175

(8) पृ.सं. 178

(9) पृ.सं. 181

(10) पृ.सं. 186-187

(11) दलित आन्दोलन का वैचारिक संकट, पृ.सं. 53 दिलीप चौबे

(12) पृ.सं. 53

(13) पृ.सं. 54

(14) हजारी प्रसाद द्विवेदी (पृ. 6, ग्रथावली-3)

(15) हजारी प्रसाद द्विवेदी (326, ग्रंथावली-4)

(16) दलित साहित्य की मुख्यधारा, पृ.सं. 168, देवेन्द्र चौबे ।

(17) दलित साहित्य : स्वरूप और प्रयोजन, पृ.सं. 70, शरण कुमार लिंबाले ।

(18) दलित लेखकों का साहित्यिक शोषण रूकना चाहिए- धर्मवीर, दलित दखल श्यौराजसिंह बेचैन, डॉ. रजत रानी मीनू, पृ.सं. 262

(19) गांधीजी ने दलित विषय उठाये थे, पृ.सं. 32 प्रो. नित्यान्द तिवारी।

डॉ. संध्या सिलावट,
राज्यकर, उपायुक्त,
इंदौर, मध्य प्रदेश, भारत